# आजादी और राष्ट्रीयता का मतलब

`सारी दुनिया इसी आकाश और सूर्य तले है। पृथ्वी अपनी धुरी पर निश्चित गति से घूमती है, पर एक ही काल में संसार के मानचित्र पर खिंची टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में बँटे छोटे-बड़े हिस्सों पर निवास करने वाले मनुष्य की नियति एक-सी नहीं है। समय का तूफान एक ही रफ्तार से उन सब पर से नहीं गुजरता। काल के बहुत सारे पन्ने यूँ ही अनपलटे अपढ़े रह जाते हैं और उन नाजुक सफों पर जो हरफ गुदे होते हैं वे सब रुमानी भावुकता से भरे नहीं होते। कभी-कभी बड़े ही कर्कश, काँटेदार, निर्मम और भयानक होते हैं वे पन्ने, जिनमें अविश्वसनीयता की हद तक नंगी सचाइयों का खौफनाक खेल खेला जा रहा होता है।'[1]

\- मनमोहन पाठक

1857 के महाविद्रोह के पीछे प्रधान कारण फिरंगियों की लूट और धन बटोर कर ब्रिटेन ले जाने की लालसा थी फिरंगियों की लूट और धन बटोर कर ब्रिटेन ले जाने की लालसा से लोगों की क्रय क्षमता में भारी गिरावट आ जाने के कारण बार-बार अकाल पड़ने लगे थे। ये अकाल क्यों पड़ने लगे? `ब्रिटिश पूँजीपतियों के इस शोषण से हिंदुस्तान में बार-बार अकाल पड़ने लगे। 19 वीं सदी के पूर्वार्द्ध में सात बार अकाल पड़ा, जिसमें कुल लगभग 15 लाख आदमी मरे। लेकिन इसी सदी के उत्तरार्द्ध में 24 बार अकाल पड़ा, जिसमें खुद सरकारी आँकड़ों के अनुसार कुल दो करोड़ आदमी मरे।'[2] अकाल कैसे पड़ते हैं? `खाद्य उत्पादन या उसकी सुलभता में कमी आये बिना भी अकाल पड़ सकते हैं। सामाजिक सुरक्षा/ बेरोजगारी बीमा आदि के अभाव

---

[1]मनमोहन पाठकः गगन घटा घहरानीः सोलहः कतार, 1991

[2]अयोध्या सिंहः भारत का मुक्ति संग्रामः प्रकाशन संस्थान सं.1997

में रोजगार छूट जाने पर किसी भी मजदूर को भूखा रहना पड़ सकता है। यह बहुत आसानी से हो सकता है। ऐसे में तो खाद्य उत्पादन एवं उपलब्धिता का स्तर उच्च होते हुए भी अकाल पड़ सकता है।'[3] जरूरी नहीं कि अकाल हमेशा अभाव से ही उत्पन्न हों। 1857 अकाल का भी प्रत्याख्यान था। यह सच हो सकता है कि 1857 के आंदोलन में परिकल्पित सफलता के बाद की आर्थिक योजनाएँ बहुत साफ नहीं थी या थी ही नहीं, इसके बावजूद दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय राष्ट्रवाद के उभार में राष्ट्र का आर्थिक आधार काम कर रहा था। आज भी आर्थिक-वृद्धि की दर के संतोषजनक होने पर भी हमारा राष्ट्र लगातार अकाल की ओर बढ़ रहा है। कहना न होगा कि अकाल आजादी को पूरी तरह से सोख लेने के बाद प्रकट होता है।

धर्म-संप्रदाय के साथ क्षेत्रीयता का तत्त्व भी अंग्रेजों के लिए नया हथियार बनने लगा था। अब वे समझ चुके थे कि `... हुकूमत करनेवाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं।'[4] *और अपनी इस समझ को जब वे राजनीतिक रूप से इस्तेमाल करने लगे तब पढ़े-लिखे लोगों की मानसिकता बदलने लगी, न सिर्फ बदलने लगी बल्कि 1857 की मूल-भावना के विपरीत और विरुद्ध होने लगी। औपनिवेशिक वातावरण में विकसित दूसरे चरण का हमारा राष्ट्रवाद अपने दुश्मन के रूप में अंग्रेज को नहीं मुसलमान को खड़ा करने लगा। दूसरे चरण का यह राष्ट्रवाद, `स्थानापन्न राष्ट्रवाद' था। `स्थानापन्न राष्ट्रवाद' की `इस* धारणा के अनुसार हमें अंधकारपूर्ण मध्य युग से ब्रिटिश शासन ने ही मुक्ति दिलाई थी क्योंकि इसी के साथ पुनर्जागरण अथवा बौद्धिक उत्थान आया था।'[5] इसे `बिपिनचंद्र ने सही तौर पर `स्थानापन्न राष्ट्रवाद' कहा है और कभी-कभी जिसका औचित्य यह कहकर सिद्ध किया जाता है कि खुलेआम अंग्रेजी सत्ता के खिलाफ लिखना खतरनाक हो सकता था (उदाहरण के लिए बंकिमचंद्र का सरकारी नौकरी में होना)।'[6] अपने को `खतरे' से बचाने के लिए पूरे राष्ट्र को खतरे में डाल देने का मामला क्या इतना सरल है! जो हो, `स्वदेशी से संबद्ध युवा वर्ग 1905 के बाद से बंकिमचंद्र को देवता मानने लगा था।'[7] इस देवता का उपन्यास `आनंदमठ' (1882) में आया और इसने 1857 के पूरे संदेश को पलटकर रख दिया। जिस बंगाल में `सबार ऊपरे मानुष' के सांस्कृतिक उद्घोष के साथ जीवन की महिमा स्थापित हुई, उस बंगाल में जीवन को `तुच्छ' कहने का राजनैतिक दुस्साहस भी सांस्कृतिक माध्यम से सामने आने लगा। अब `जरा देर बाद फिर आवाज हुई, फिर उस निस्तब्धता को मथ कर मनुष्य का शब्द सुनाई दिया? मेरी मनोकामना क्या पूरी नहीं होगी? इस तरह से वह अंधकार का समुद्र तीन बार आलोड़ित हुआ। तब उत्तर मिला, तुम्हारा न्योछावर क्या है? उत्तर मिला, जीवन सर्वस्व। प्रतिउत्तर मिला, जीवन तुच्छ है, सभी दे सकते हैं। तो और है क्या? क्या दूँ? उत्तर मिला?

---

[3]प्रो. अमर्त्य सेनः आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य – अकाल और अन्य आपदाएँ (अनु. भवानी शंकर बागला): राज प्रकाशन 2001

[4]भीष्म साहनीः तमसः राजकमल प्रकाशन, द्वितीय आवृत्ति- 1997

[5]सुमित सरकार: आधुनिक भारत 1885-1947 : राजकमल प्रकाशन, 8 वीं आवृत्ति

[6]सुमित सरकार: आधुनिक भारत 1885-1947 : राजकमल प्रकाशन, 8 वीं आवृत्ति

[7]सुमित सरकार: आधुनिक भारत 1885-1947 : राजकमल प्रकाशन, 8 वीं आवृत्ति

भक्ति।'[8] भक्ति किसके प्रति? इसका उत्तर आज भी प्रतीक्षित है। *इतिहास बताता है कि* `बंकिमचंद्र का सरोकार मूलत: बंगाल के इतिहास से था। वे बारंबार यही दोहराते रहे कि बंगाल ने अपनी स्वाधीनता बख्तियार खिलजी के कारण खोई थी, पलासी की लड़ाई में नहीं।'[9] विडंबना यह कि जिस व्यक्ति का सरोकार मूलत: भारत के एक क्षेत्र विशेष (बंगाल) से था, वह भारत के राष्ट्रवाद का नायक बन गया! वस्तुत: यह राष्ट्रवाद नहीं औपनिवेशिक दबाव में उत्पन्न और औपनिवेशिक आकांक्षाओं को पूरा करनेवाला स्थानापन्न राष्ट्रवाद था। इस स्थानापन्न राष्ट्रवाद ने असली राष्ट्रवाद को अपदस्थ एवं स्थगित कर दिया, इससे आजादी की माँग अपना मूल चरित्र खोकर तदर्थ आजादी की माँग में बदल गई। इस प्रकार `मनोकामना' पूरी हुई! भारतीय राष्ट्र के जीवन में इससे बड़ी अन्य किस दुर्घटना का उल्लेख किया जा सकता है!

## आजाद भारत का संकल्प और सद्भाव

आज के कोलाहल में सबसे अधिक खतरे में आजादी है। किसकी आजादी और किस तरह की आजादी ? ऐसे अनेक प्रसन्न तुरंत उठ खड़े होते हैं। बहुत संक्षेप में ही सही, लेकिन यह उल्लेख कर देना जरूरी है कि आज की मुख्य धारा की बौद्धिक परियोजना, और यह मान लेने में किसी को कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि यह सिर्फ समृद्धों की बौद्धिक परियोजना ही नहीं है, बल्कि समृद्ध बौद्धिक परियोजना भी है, आजादी को फालतू का बोझ साबित करने पर तुली हुई है। सवाल उठता है कि किस तरह की आजादी को? आजादी का मतलब है, जीवन निर्वाह के लिए जरूरी संसाधनों, जीवन-स्थितियों, ज्ञान-विज्ञान एवं कला संस्कृति के क्षेत्र में जो भी प्रगति हुई है उन तक पहुँच बनाने की क्षमता के अर्जन के समान अवसर पर अधिकार की आजादी। बिडंबना यह कि इस क्षमता को हासिल करने में `आजादी' को ही सबसे बड़ा अवरोध बताया जा रहा है। दूसरी ओर यही बौद्धिक परियोजना सामान्य जन के जीवन निर्वाह के लिए जरूरी संसाधनों, जीवन-स्थितियों, ज्ञान-विज्ञान एवं कला संस्कृति के क्षेत्र में हुई प्रगति पर कुछ संपन्न और समृद्ध लोगों का एकाधिकार बनाने के निष्कंटक अवसरों पर निरंकुश अधिकार की `आजादी' को जायज ठहारने की कोशिश करती रहती है। आजादी के इस व्याकरण में शोषण करना आजादी है, शोषण का विरोध करना उच्छृँखलता है। अर्थात, उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान का लाभ कुछ ही लोगों को मुट्ठी में कैद कर लेने की आजादी जायज है। एक ओर स्वतंत्रता को उच्छृँखलता का पर्याय बनाया जा रहा है तो दूसरी ओर स्वतंत्रता का अर्थ समर्पण बताया जा रहा है। इस समय मुख्य संघर्ष का सार आजादी को समझने और उसे पाने एवं बचाने का है। आज के इस संघर्ष के दौरान पिछली सदी में आजादी के लिए हुए आंदोलन के ऐतिहासिक अनुभवों को ताजा कर लेने की जरूरत है। यह लेख इस दिशा में एक छोटा-सा विनम्र प्रयास है।

एक लंबे राजनीतिक संघर्ष और राष्ट्र-विभाजन के बाद 15 अगस्त 1947 को भारत को आजादी मिली। 14 अगस्त 1947 को संविधान सभा में जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि `यह समय क्षुद्र एवं विध्वंसात्मक

[8]बंकिम चटर्जी: आनंदमठ (1880): उपक्रमणिका (अनु. हंस कुमार तिवारी): सन्मार्ग प्रकाशन- सं2, 1997

[9]सुमित सरकार: आधुनिक भारत 1885-1947 : राजकमल प्रकाशन, 8 वीं आवृत्ति

आलोचनाओं के लिए नहीं है, और न ही अपने मन में दुर्भाव रखने एवं दूसरों पर दोषारोपण करने के लिए है। हमें स्वतंत्र भारत का ऐसा भव्य प्रासाद निर्मित करना है, जहाँ उसकी सभी संतानें एक साथ रह सकें।'[10] भारत का `भव्य प्रासाद' निर्मित हो रहा है, लेकिन उसमें इसकी सभी संतानों के लिए समुचित जगह का अब कोई अश्वासन भी नहीं है। असंतुलित विकास और क्षुद्र आकांक्षाओं ने सारे सपनों को ध्वस्त कर दिया है। इस `भव्य प्रासाद' में काले धन का भांडार बढ़ रहा है। काले धन के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण राजनीतिक गुणवत्ता में कमी आ रही है या राजनीतिक गुणवत्ता में भारी क्षरण के कारण काला धन बढ़ रहा है, यह अलग से शोध का विषय हो सकता है। लेकिन, यह तय है कि इनमें गहरा संबंध है। आँख के सामने यह बात बिल्कुल साफ है कि काला धन बढ़ रहा है और राजनीतिक गुणवत्ता में गिरावट आ रही है। यदि इस बात को आमने-सामने रखकर विचार किया जाये कि भारत के विधान मंडलों के सदस्यों की आर्थिक स्थिति एवं राजनीतिक गुणवत्ता शुरू से आज तक कैसी रही है, तो यह बिल्कुल साफ हो जायेगा कि सदस्यों की आर्थिक स्थिति का ग्राफ तेजी से उठा है और राजनीतिक गुणवत्ता का ग्राफ तेजी से गिरा है। ऐसे में यह मान लेने के अलावे कोई चारा नहीं है कि जो प्रासाद बन रहा है वह भव्य नहीं भयानक है।

नेहरू जी ने यह भी बताया कि `हमने दृढ़तापूर्वक समाजवादी ढाँचेवाली समाज-व्यवस्था का लक्ष्य निर्धारित किया है। व्यक्तिगत तौर पर मेरी यह धारणा है कि संग्रहशील समाज जो पूँजीवाद की नींव है, वर्तमान युग के लिए फिट नहीं है। हमें आधुनिक युग की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए एक ऐसी उच्चतर व्यवस्था विकसित करनी होगी जिसमें प्रतिस्पर्द्धा की जगह सहकारिता की भावना प्रबल हो। हमने समाजवाद को इसलिए अपने लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है कि यह हमें उचित एवं लाभकारी प्रतीत होता है, बल्कि हमने इसे इसलिए स्वीकार किया है कि हमारी आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है।'[11] 1991 तक आते-आते दुनिया बड़ी तेजी से बदलने लगी और इस तेज बदलाव में भारत की सरकार को भी महसूस हुआ कि अब `समाजवाद का रास्ता' कोई रास्ता ही नहीं है; जो रास्ते हैं वे सब समाजवाद के प्रति हिकारत से ही निकलते हैं। बदली हुई परिस्थिति में यह माना गया कि अब `सहकारिता' का युग गया और `प्रतिस्पर्द्धता' का श्रीगणेश हुआ। समाजवाद के मूल संकल्प को किनारे करते हुए चारों तरफ प्रतिस्पर्द्धता ? और गलाकाट प्रतिस्पर्द्धता? का वातावरण बनाया जाने लगा। इस वातावरण के आते ही जोर-शोर से बताया जाने लगा कि देश विकास कर रहा है। प्रमाण है? बढ़ा हुआ सकल घरेलू उत्पाद, बढ़ी हुई प्रति व्यक्ति आय और वृद्धि दर का बढ़ा हुआ प्रतिशत। विकास को वृद्धि का पर्याय माना जाने लगा। आँकड़े यह भी आने लगे कि किस वर्ष में कितने नये लोग करोड़पति, कितने अरबपति की सूची में शामिल हुए। कितने बच्चे बीच रास्ता में पढ़ाई छोड़ने को मजबूर हुए, कितनी बड़ी आबादी को पीने का पानी नहीं मिल रहा है, कितने लोग बेरोजगार हो रहे हैं, महिलाओं पर अत्याचार के कैसे एवं कितने मामले सामने आ रहे हैं, दलितों की आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति पहले से कितनी बदतर हुई है, कितनी बड़ी आबादी जल-जमीन-यौवन-जीवन से बेदखल हो रही है, कितनी तेजी से हत्या एवं आत्महत्या की प्रवृत्ति

---

[10]जवाहर लाल नेहरूः संविधान सभा में भाषण – नियति से मुठभेड़ः सामाजिक क्रांति के दस्तावेजः1 – सं. डॉ. शंभुनाथः वाणी प्रकाशन, 2004

[11]जवाहर लाल नेहरूः संवाद ही हमारी परंपरा है, 1960 – नियति से मुठभेड़ः सामाजिक क्रांति के दस्तावेजः1 – सं. डॉ. शंभुनाथः वाणी प्रकाशन, 2004

बढ़ रही है, इन्हें गिनना समय बर्बाद करना है। लेकिन सकल घरेलू उत्पाद, प्रति व्यक्ति आय और वृद्धि दर का बढ़ा हुआ प्रतिशत क्या सचमुच प्रमाण हो सकते हैं? हो सकते हैं, अगर राष्ट्रीय आय का वितरण राष्ट्रीय स्तर पर न्यायपूर्ण और नैतिक ढंग से हो सके। राष्ट्रीय आय के न्यायपूर्ण वितरण का कोई कारगर ढाँचा विकसित हो, `प्रत्याहार-सन्निपात'[12] से ग्रस्त राज्य इस ओर से निरंतर उदासीन होता चला जा रहा है। बताया जाता है कि सरकार को काम रोजगार उपलब्ध करवाना नहीं है, रोजगार के अवसर निजी क्षेत्र में हैं। निजी क्षेत्र में रोजगार पानेवाले विभिन्न स्तर के लोगों के लिए वेतन-भत्ता का राष्ट्रीय स्तर का कोई प्रभावी मानक लागू करवाना, या इस दिशा में सोचना भी राज्य की चिंता से बाहर है। ऐसे में रोजगार नहीं अर्द्ध-रोजगार? जिसमें बेगार को भी शामिल समझा जा सकता है? ही उपलब्ध हो रहा है। विषमता की खाई गहरी और चौड़ी होती जा रही है एवं व्यक्ति की हालत खराब होती जा रही है। `किसी सामाजिक व्यवस्था में एक व्यक्ति की स्थिति को दो प्रकार से परखा जा सकता है : (1) उसकी वास्तविक उपलब्धि की दृष्टि से, और (2) उसकी उपलब्धि की स्वतंत्रता की दृष्टि से। उपलब्धि का संबंध इससे है कि हम क्या-क्या कर पाते हैं, और स्वतंत्रता का संबंध जिसे हम महत्त्वपूर्ण समझते हैं उसे कर पाने के वास्तविक अवसर से है। जरूरी नहीं कि दोनों समान हों। विषमता पर विचार उपलब्धियों और स्वतंत्रताओं की दृष्टि से किया जा सकता है और दोनों का सहधर्मी होना आवश्यक नहीं है। यह अंतर दक्षता को परखने के लिए भी महत्त्वपूर्ण है जिसे वैयक्तिक उपलब्धियों या उपलब्धि की स्वतंत्रताओं के आधार पर परखा जा सकता है। इस तरह उपलब्धि और स्वतंत्रता का अंतर सामाजिक मूल्यांकन के लिए केंद्रीय महत्त्व का है।'[13] कहना न होगा कि जैसे-जैसे समाज में विषमता बढ़ रही है, वैसे-वैसे वास्तविक स्वतंत्रताओं का क्षरण हो रहा है। विषमतामूलक व्यवस्था में जवान दिमाग को तोड़कर उसमें नाजायज सपनों की खेती की जा रही है। स्वतंत्रताओं के इस क्षयकारी समय में आजादी का सवाल दिलो-दिमाग को मथता रहता है।

सभ्यता विकास के इतिहास में सौ-दो-सौ साल का समय बहुत नहीं होता है। यह बात भौतिक समय के लिए जितनी सच है, उतनी सच मानवीय समय के लिए नहीं है। भौतिक समय की गतिशीलता ग्रह-नक्षत्रों की स्वचालित प्रक्रिया से नियंत्रित होती है, जबकि मानवीय समय की गतिशीलता मानवीय उद्यम से तय होती है। आधुनिक समय में स्वतंत्रता के लिए भारतीय लोगों के द्वारा किये गये संघर्ष के इतिहास में सन 1857 का अपना महत्त्व है। आज उसके 150 वर्ष पूरे हो रहे हैं। इस 150 वर्ष में भारतीय दुनिया बहुत बदली है। क्या हैं ये बदलाव? इसका उत्तर बहुत आसान नहीं है। इतिहास की जटिल प्रक्रियाओं में इन बदलावों के सूत्र उलझे हुए हैं। कहना न होगा कि 1857 भारतीय जीवनानुभव का सार लेकर उपस्थित हुआ था। 1857 पर बात करने से हमारे इतिहास की वक्र रेखाएँ तो स्पष्ट होंगी हमारे वर्त्तमान की कई भंगिमाओं को समझने में भी बहुत हद तक मदद मिल सकती है। भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के सामने 1857 की सफलता-विफलता को लेकर परेशानी में डालने वाला सवाल खड़ा किया जाता है। कम-से-कम इतिहास के मामले में सही उत्तर

---

[12] Withdrawal Syndrome के अर्थ में।

[13] अमर्त्य सेनः विषमता एक पुनर्विवेचन (अनु. नरेश नदीम): राजकमल प्रकाशन 1999: स्वतंत्रता, उपलब्धि और संसाधनः स्वतंत्रता और चचन

नहीं दे पाना उतना खतरनाक नहीं होता है जितना कि किसी गलत सवाल के सामने बार-बार खड़ा कर दिया जाना। गलत सवाल के सामने खड़ा कर दिया जाना, कभी-कभी गैरइरादतन भी हो सकता है, लेकिन सदैव नहीं। भूलना नहीं चाहिए कि चूँकि, इतिहास और राजनीति के प्रणतंतु अनन्यत: जुड़े हुए होते हैं, इसलिए इरादतन के साथ-साथ इन गैरइरादतन स्थितियों के भी खतरनाक राजनीतिक परिणाम होते हैं। इस तरह के खतरों से बचने के लिए जहाँ इतिहास के सवालों के सही जवाब की तलाश जरूरी है, वहीं गलत सवालों से बचने की भी जरूरत है।

## क्या 1857 महज सिपाही विद्रोह था !

ऐतिहासिक दस्तावेजों के साक्ष्य से बार-बार यह बात प्रमाणित होती रही है कि 1857 की घटना महज सिपाही विद्रोह नहीं थी। लेकिन, यह सवाल किसी न किसी रूप में हमारे इतिहास में बार-बार सिर उठाता रहता है। तथ्य यह बताते हैं कि 1854 से ही इस विद्रोह की तैयारी शुरू हो गई थी। इस विद्रोह के मूल में जो कारण था उसे सिर्फ कारतूस से जोड़ना गलत है। करतूस के कारण तात्कालिक रूप से विद्रोह जरूर भड़का था, लेकिन कारतूस ही असली और एकमात्र कारण नहीं था। फिर, `वे कौन कारण थे जिन्होंने इस देश के विभिन्न वर्गों को फिरंगियों को भगाने के संग्राम के मैदान में उतार दिया था ? इसका प्रधान कारण फिरंगियों की लूट और धन बटोर कर ब्रिटेन ले जाने की लालसा थी।'[14] इसकी तैयारी सोच-समझकर की जा रही थी और 31 मई रविवार का दिन तय किया गया था। कारतूस प्रकरण से `बैरकपुर स्थित 34 वीं देशी पलटन भी विद्रोह के पक्ष में सम्मति दे चुकी थी। मंगल पांडे इसी पलटन के सिपाही थे। यह पलटन 19 वीं पलटन (कारतूस में हाथ लगाने इनकार करने और बगावती रुख अख्तियार करने के कारण 21 मार्च 1857 को यह पलटन तोड़ दी गई थी।) के अपमान को बरदाश्त करना न चाहती थी, किंतु नेताओं ने इंतजार करने का आदेश दिया।'[15] नेताओं, और ये सभी नेता फौजी नहीं थे, की मनाही के बावजूद मंगल पांडे ने निर्धारित समय से पहले 29 मार्च 1857 के पैरेड के समय क्रांति की पहली गोली दाग दी। हालाँकि, दूसरे सिपाही नेताओं ने मंगल पांडे का रास्ता तत्काल अख्तियार नहीं किया लेकिन, अंतत: 31 मई तक का इंतजार भी नहीं किया जा सका। स्थिति तेजी से बदलती जा रही थी। अंतत: फैसला बदलते हुए दिल्ली समाचार भेजा गया कि `हम ग्यारह या बारह मई को दिल्ली पहुँच रहे हैं, स्वागत के लिए तैयार रहो।'[16] देखना दिलचस्प होगा कि 1857 में उभरे इस राष्ट्रबोध का चरित्र कैसा था।

अंग्रेज देशी सेना पर पूरी तरह भरोसा तो कर ही नहीं सकते थे। सामान्यत: नागरिकों के एक हिस्से को लेकर ही सेना संगठित की जाती है। जो सत्ता अपने नागरिकों को लूटने पर लगी हो, उस सत्ता को वैसे भी न तो नागरिकों पर और न ही नागरिकों के एक अंश को लेकर गठित सेना पर ही कोई भरोसा करना चाहिए। असल में, `देशी सेना की सृष्टि कर ब्रिटिश शासन ने साथ ही साथ प्रतिरोध का ऐसा प्रथम साधारण केंद्र

[14]अयोध्या सिंहः भारत का मुक्ति संग्रामः प्रकाशन संस्थान सं.1997

[15]अयोध्या सिंहः भारत का मुक्ति संग्रामः प्रकाशन संस्थान सं.1997

[16]अयोध्या सिंहः भारत का मुक्ति संग्रामः प्रकाशन संस्थान सं.1997

संगठित कर दिया जैसा भारतीय जनता के हाथ में कभी न था। .... यह पहली मर्तबा है कि देशी फौजों ने अपने यूरोपीय अफसरों को मार डाला है, कि `हिंदुओं से आरंभ होनेवाली अशांति की परिणति दिल्ली के राजसिंहासन पर एक मुसलमान सम्राट का आरेहण हुआ है' कि बगावत सिर्फ कुछ स्थानों तक ही सीमित नहीं है; और अंतिम यह कि आंग्ल भारतीय सेना का विद्रोह उस वक्त हुआ है जबकि अंग्रेजों के प्रभुत्व के खिलाफ महान एशियाई राष्ट्र आम संतोष प्रकट कर रहे हैं, बंगाल सेना के विद्रोह का गहरा संबंध फारस और चीन के युद्धों से है। (कार्ल मार्क्स, न्यूयार्क डेली ट्रिव्यून में 15 जुलाई 1857 को प्रकाशित `भारतीय सेना में विद्रोह' शीर्षक लेख में[17] 1857 के तात्कालिक लक्ष्यों के बारे में इतिहास के साक्ष्य साफ-साफ संकेत करते हैं कि मुगल बादशाह को फिर से सत्तासीन करना इसकी मूल आकांक्षा थी और इस तात्कालिक लक्ष्य के लिए जनता की अनिवार्य एकता रास्ते में किसी के हिंदु, मुसलमान या किसी भी धर्म-संप्रदाय के होने से कोई बाधा नहीं थी। इससे एक निष्कर्ष बहुत साफ-साफ हासिल होता है कि हमारे राष्ट्रवाद के प्रथम उभार के मूल में धर्म-संप्रदाय से निरपेक्ष रहते हुए आर्थिक आजादी के लिए संघर्ष करना एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक लक्षण और संदेश था।

निर्धारित समय से पहले विद्रोह फूट पड़ने का असर निश्चित रूप से पड़ा। उसमें बिखराव भी आया। लेकिन जल्दी ही इस बिखराव को सम्हाल भी लिया गया था। यदि हमारी अपनी चूकों और गलतफहमियों के कारण इस्ट इंडिया कंपनी को हमारे ही एक हिस्से से मदद न मिली होती तो उनका सम्हल पाना नितांत असंभव था। अंग्रेजों के मददगार कौन साबित हुए, इस पर बहुत अधिक बात करना आज हमारे हित में नहीं है। 1857 के महाविद्रोह में कोई रणनीतिक कमी नहीं थी, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। इन कमियों के बावजूद यह तो माना ही जा सकता है कि आधुनिक एवं धर्म-निरपेक्ष आर्थिक राष्ट्र के रूप में भारत के पुनर्गठन को 1857 ने महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान किया। 1857 ने हमारे राष्ट्रबोध को नया क्षितिज प्रदान किया। इस नये क्षितिज में हमारे राष्ट्रवाद के चरित्र में धर्म-निरपेक्षता और आर्थिक विकास की आकांक्षा बुनियादी तत्त्व रहे हैं।

## 1857 के बाद जो हुआ

1857 के बाद अंग्रेजों ने महसूस कर लिया कि इस तरह की बेरोक-टोक लूट का करोबार निरापद ढंग से भारत में चल नहीं सकता। भारत की राजनीतिक स्थिति के साथ ही इंगलैंड की राजनीतिक स्थिति भी ऐसी थी कि कंपनी का शासन समाप्त हुआ और देश के शासन की डोर ब्रिटेन की संसद के हाथ में चला गया। इस तरह 1857 की आकांक्षा के अनुसार दिल्ली की गद्दी पर भले ही मुगल बादशाह का आरोहण न हो सका लेकिन कंपनी का शासन तो समाप्त हो ही गया। कंपनी के शासन और ब्रिटेन की संसद के शासन में एक मलभूत अंतर यह था कि अब भारत का शासन राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा बन गया। इतना सब होने के बाद भी यह बात साफ थी कि अंग्रेजों के शासकीय-चरित्र में बहुत अंतर नहीं आया था। हाँ, शासन के तरीके

[17]अयोध्या सिंहः भारत का मुक्ति संग्रामः प्रकाशन संस्थान सं.1997

में बदलाव जरूर आया।

1857 के बाद अंग्रजों की पूरी कोशिश 1857 के संदेश को धूमिल करने की रही। 1857 का संदेश, अर्थात धर्म-निरपेक्ष आर्थिक राष्ट्र के रूप में भारत के पुनर्गठन का संदेश। 1859 तक भारत में अंग्रेजी राज अपने नये चरण में प्रवेशकर फिर से अपना पाँव जमा चुका था। लेकिन सांस्कृतिक स्तर पर भारत नये सिरे से सक्रिय था। `1860 और 1870 के दशकों में बंगाल में विपुल काव्य और गीत साहित्य रचा गया जिसमें देश की दुर्दशा और कभी-कभी तो प्रत्यक्षत: हस्तकौशलों के पतन पर विलाप किया गया था। ... नया-नया स्थापित हुआ रंगमंच तो और भी अधिक ब्रिटिश-विरोधी था जिसने नील की खेती करनेवालों की दशा का चित्रण करनेवाले दीनबंधु मित्र के नाटक *नीलदर्पण* (1860) से लेकर 1870 के दशक तक अन्य अनेक ऐसे नाटक मंचित किये कि लिटन को 1876 में ड्रामेटिक परफार्मेंसेज एक्ट लाना पड़ा।'[18] इस एक्ट के लागू होने के बाद सांस्कृतिक वातावरण में तेजी से बदलाव आने लगा। 1857 की राजनीतिक लाइन कमजोर पड़ गई। ऐसा मानना ठीक नहीं होगा कि साहित्य ने अपने को समेट लिया। अब नाटकों का सवरूप बदल गया। नाटक राजनीतिक होने से परहेज करते हुए पारिवारिक सरोकारों से जुड़ गये।

## आज का राष्ट्रवाद

आज उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के दौर में हमारी स्थिति क्या है। क्या हैं, इसके खतरे ? भूमंडलीकरण की अवधारणा का `माया-तत्त्व' बहुत प्रभावशाली है। `भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में बौद्धिक-विभ्रम रचने की जबर्दस्त ताकत है। यह ताकत स्थिति पर प्रतीति का ऐसा मोहक आवरण चढ़ा देती है कि प्रतीति के प्रभाव से मुक्त होकर स्थिति तक पहुँच बनाना बहुत ही टेढ़ा काम हो जाता है। शृँगार इतना मोहक होता है कि सौंदर्य की तरफ ध्यान देने का अवकाश ही नहीं बचता है। शृंगार और सौंदर्य के पीछे दुल्हन के धड़कते दिल तक पहुँचने की तो बात ही दूर !'[19] प्रतीति के मोहक एवं शवक्तशाली आवरण को भेदकर भारतीयता और राष्ट्रीयता की तलाश आज बहुत जरूरी है। `भारतीयता की खोज आज के संदर्भ में दो दृष्टियों से आवश्यक है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश में एक सांस्कृतिक अराजकता व्याप्त हो गई है। स्वदेश और स्वदेशी की भावनाएँ, अशक्त होती जा रही हैं। हम बेझिझक पश्चिम का अनुकरण कर अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति एक छोटे, पर प्रभावशाली, तबके तक सीमित है, पर उसका फैलाव हो रहा है। यदि इसे हमने बिना बाधा बढ़ने दिया तो हमें परंपराओं की संभव ऊर्जा से वंचित होना पड़ेगा और हमारी स्थिति बहुत कुछ त्रिशंकु जैसी हो जायेगी। दूसरा कारण और भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है, न्यस्त स्वार्थ, जिसका उपयोग खुलकर अपने उद्देश्यों के लिए कर रहे हैं। उन पर रोक लग सकती है, यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की तलाश करें।'[20] यह

---

[18]सुमित सरकार: आधुनिक भारत 1885-1947 : राजकमल प्रकाशन, 8 वीं आवृत्ति

[19]प्रफुल्ल कोलख्यानः भूमंडलीकरण के दौर में: स्वाधीनता – शारदीया, 2006

[20]प्रो. श्यामाचरण दुबेः समय और संस्कृतिः भारतीयता की तलाश

याद करना आवश्यक है कि आज भी हमारे पास एक निर्मिति के रूप में जो हासिल है वह `स्थानापन्न राष्ट्रवाद' ही है। आज साम्राज्यवादी आकांक्षा के सर्वग्रासी विस्तार से निबटने के लिए 1857 की प्रेरणाओं से सही राष्ट्रवाद के विकास की जरूरत है, कहना न होगा कि कुत्सित एवं स्थानापन्न राष्ट्रवाद के खतरे के प्रति सावधान रहना भी उतना ही आवश्यक है।

रवींद्रनाथ ठाकुर ने इस ओर ध्यान दिलाते हुए दृढ़तापूर्वक कहा कि `भारत ने कभी भी सही अर्थों में राष्ट्रीयता हासिल नहीं की। मुझे बचपन से ही सिखाया गया कि राष्ट्र सर्वोच्च है, ईश्वर और मानवता से भी बढ़कर। आज मैं इस धारणा से मुक्त हो चुका हूँ और दृढ़ता से मानता हूँ कि मेरे देशवासी देश को मानवता से भी बड़ा बतानेवाली शिक्षा का विरोध करके ही सही अर्थों में अपने देश को हासिल कर पाएँगे।'[21] कहना न होगा कि `समाजवाद' और `विश्व-मानवतावाद' मिलकर `राष्ट्रवाद' का विलोम रचते रहे हैं। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण `राष्ट्रवाद' को भी तोड़ता है साथ ही `समाजवाद' और `विश्व-मानवतावाद' जैसे उसके विलोम को भी तोड़ता है। ऐसे में यह रणनीतिक रूप से जरूरी प्रतीत होता है कि `राष्ट्रवाद', `समाजवाद' और `विश्व-मानवतावाद' संयुक्त उपयोग उनिभू की परियोजनाओं से संघर्ष में किया जाना चाहिए।

## फिर समाजवाद

जब नेहरू जी ने `दृढ़तापूर्वक समाजवादी ढाँचेवाली समाज-व्यवस्था' की बात कही थी तो वे जानते थे कि समाजवादी समाज-व्यवस्था में ही प्रतिस्पर्द्धा की जगह सहकारिता की भावना प्रबल हो सकती है। सहकारिता की भावना न हो तो कोई भी समाज-व्यवस्था नहीं टिक सकती है। यह सहज ही अनुभव किया जा सकता है कि जब से और जिस अनुपात में निर्बंध प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा मिल रहा है तब से और उस अनुपात में जीवन दुर्वह होता जा रहा है। प्रतिस्पर्द्धता उत्पीड़न को जन्म देती है, निर्बंध आर्थिक प्रतिस्पर्द्धता निर्बंध आर्थिक उत्पीड़न को जन्म देती है। `आर्थिक उत्पीड़न अनिवार्यत: हर प्रकार के राजनीतिक उत्पीड़न और सामाजिक अपमान को जन्म देता है तथा आम जनता के आत्मिक और नैतिक जीवन को निकृष्ट और अंधकारपूर्ण बना देता है। जब तक पूँजी की सत्ता का उन्मूलन नहीं कर दिया जाता तब तक स्वतंत्रता की कोई भी मात्रा उन्हें दैन्य, बेकारी और उत्पीड़न से नजात नहीं दिला सकती !'[22] कहना न होगा कि उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण निर्बंध आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा और इस तरह निर्बंध आर्थिक उत्पीड़न को जन्म देती है। इस से समाज-व्यवस्था तहस-नहस हो रही है। पूँजी की सत्ता के उन्मूलन के बिना स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं बन सकता है। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण का विकल्प समाजवाद ही हो सकता है।

ध्यान में होना ही चाहिए कि `दरअस्ल, भूमंडलीकरण एक पूरा पैकेज है। पैकेज की विशेषता ही यह होती है

[21] रवींद्रनाथ ठाकुरः भारत में राष्ट्रीयता – 1917 : सामाजिक क्रांति के दस्तावेजः1 – सं. डॉ. शंभुनाथः वाणी प्रकाशन, 2004

[22] लेनिनः समाजवाद और धर्मः धर्म और लेनिनः नेशनल बुक एजेंसी

कि उसे संपूर्ण रूप से ही अपनाया अथवा छोड़ा जा सकता है। खंड रूप से अपनाने अथवा छोड़ने की निरापद गुंजाइश नहीं के बराबर रहती है। इसे छोड़ने के लिए एक समकक्ष वैकल्पिक पैकेज का होना जरूरी है। समकक्ष वैकल्पिक पैकेज को अपनाने के साहस का अभाव भूमंडलीकरण के पैकेज को अपनाने की बाध्यता रचता है। समकक्ष वैकल्पिक पैकेज को अपनाने के साहस का अभाव भूमंडलीकरण के विरोध की नाभिकीयता में भूमंडलीकरण के निर्विकल्प होने की धारणा को संस्थापित करने और सुदृढ़ बनाने में खपा देता है। समकक्ष वैकल्पिक पैकेज का बनाव और अपनाव नहीं होने के कारण भूमंडलीकरण का विरोध सिर्फ `कलर' का विरोध बनकर रह जाता है, `कोर' का विरोध नहीं बन पाता है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया अपने विरोध को समंजित करने के लिए `मानवीय चेहरे' (`कलर') को अपनाने की बात तो करती है, लेकिन `मानवीय दिल' (`कोर') को अपनाने की बात नहीं करती, प्लास्टिक सर्जरी की बात तो करती है, हृदय-प्रत्यारोपण की बात नहीं करती। क्रूर कलेजे को मोहक चेहरे के साथ प्रस्तुत करती है! नतीजा यह कि समकक्ष वैकल्पिक पैकेज के अभाव में समर्थन और विरोध दोनों ही भूमंडलीकरण के रथ को आकांक्षित दिशा में ले जानेवाले `श्याम-श्वेत' घोड़े की तरह जुत जाते हैं।'[23] स्वाभाविक है कि आजादी के लिए उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के वैकल्पिक पैकेज अर्थात समाजवाद का अपनाने का राजनीतिक और सांस्कृतिक साहस जरूरी है। इस साहस का स्रोत समाज में ही होता है। राजनीति को अपने समाज से नया साहस हासिल करने का उद्यम करना होगा। इस समय की राजनीतिक पद्धति अगर ऐसा नहीं करती है, तो निश्चित ही समाज नई राजनीतिक पद्धति को जन्म देगा। लेकिन अभी तो हम परेशान और शर्मिंदा हैं क्योंकि, `दुनिया हमसे पूछती है:/ तो अब तुम भीख क्यों माँगते हो?/ क्यों तुमने कोटि-कोटि जनों को `अछूत' बना रखा है?/ एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण को अपने चौके में क्यों घुसने नहीं देता?/ भंगी क्यों नहीं डोम का छुआ पानी पीता है?/ पूर्वजों के पुण्य का तुम्हारा जादू कहाँ चला गया?/ दुनिया हमसे पूछती है// दुनिया हमसे पूछती है:/ बहुसंख्यक भारतीयों को क्यों नहीं मालूम है/ आजादी और राष्ट्रीयता का मतलब'[24]।

---

[23]प्रफुल्ल कोलख्यानः भूमंडलीकरण के दौर में: स्वाधीनता – शारदीया, 2006

[24]नागार्जुन रचनावली – 2: हुकूमत की नर्सरीः खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1975